

। पैरवी ।

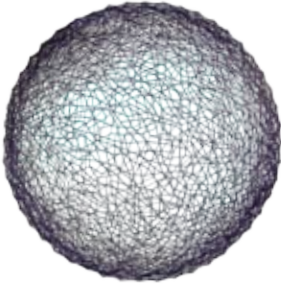
॥ पैरवी संवाद ॥

पब्लिक एडवोकेसी इनिशिएटिवज फॉर राइट्स एण्ड वेल्युज इन इण्डिया (पैरवी)

o"K11 val 1

Qojh 2010

इस अंक में



COP15
COPENHAGEN

- ◆ क्या सच में ईमानदार हैं?
- ◆ क्या है कोपेनहेगन समझौते में?
- ◆ कोपेनहेगन समझौता :
क्या कहते हैं बाकी देश?
- ◆ कोपेनहेगन :
उत्साह, आशंकाएँ और आयोजन
- ◆ जलवायु परिवर्तन समझौतों में
कृषि
- ◆ जलवायु परिवर्तन के लिए अब तक
का सबसे बड़ा प्रदर्शन
- ◆ बोलिविया शिखर सम्मेलन
- ◆ कार्बन ट्रेडिंग :
जलवायु सुधार या बाज़ार निर्माण?
- ◆ जलवायु परिवर्तन पर राष्ट्रीय
कार्ययोजना
- ◆ अखबारों की सुर्खियाँ

संपादक मण्डल.....

अजय के. झा
रजनीश
विनोद कोष्ठी

प्रिय साथियो,

दिसम्बर 2009 में हुए कोपेनहेगन सम्मेलन के पहले और बाद की स्थितियाँ काफी बदली हुई हैं। सिर्फ इन संदर्भों में नहीं कि सम्मेलन से जो उम्मीदें थीं वह उन पर खरा नहीं उतर सका या कि सम्मेलन में जो समझौता (कोपेनहेगन एकोर्ड) निकलकर सामने आया वह जलवायु परिवर्तन की गंभीरता से निपटने के लिए पर्याप्त नहीं है, बल्कि इस संदर्भ में कि जलवायु परिवर्तन को लेकर वैश्विक राजनीति अब एक नए चरण में है।

विकासशील और विकसित देशों के बीच किसी समझौते को लेकर जो बुनियादी मतभेद की ज़मीन थी इस नई राजनीति ने उसे काफी हद तक कमज़ोर कर दिया है। सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि इस सारी कवायद के बाद भी जलवायु परिवर्तन के गंभीर परिणामों से निपटने के प्रयासों के रूप में नतीजा सिर्फ़ ही है। जो समझौता (कोपेनहेगन एकोर्ड) सामने आया है वो सिर्फ़ कुछ देशों द्वारा अपनी रोटियाँ सेंकना भर है, क्योंकि इसमें नया कुछ नहीं है बल्कि पहले से मौजूद क्योटो प्रोटोकॉल की शर्तों को और भी शिथिल कर दिया है। दूसरी प्रमुख बात यह है कि इस समझौते में कुछ भी वैधानिक रूप से बाध्यकारी नहीं है, न ही उत्सर्जन में कमी का प्रतिशत और न ही इसके लिए किये जाने वाले प्रयास। हाँ सिर्फ़ इस बात पर सहमति है कि वैश्विक तापमान में 2 डिग्री सेल्सियस से अधिक वृद्धि न होने पाए। परंतु बिना किसी निश्चित पैमाने और बाध्यता के यह कहाँ तक संभव हो पाएगा न तो इस पर किसी ने बात की और न ही इसके व्यावहारिक पक्ष पर नज़र डालने का प्रयास किया। शायद साधन सम्पन्न विकसित और अब इसी दिशा में आगे बढ़ रहे चंद विकासशील देशों को इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता कि 2 डिग्री सेल्सियस तापमान वृद्धि से कितने देश नष्ट हो सकते हैं और कितने देश नष्ट होने के कगार पर पहुँच सकते हैं।

वहीं दूसरा पक्ष कार्बन क्रेडिट का भी है जो कि वैश्विक व्यापार को एक नया आयाम दे रहा है। भले ही इसे जलवायु परिवर्तन की गंभीरता को कम करने के एक सशक्त माध्यम के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है परंतु इसके पीछे की सारी कवायद और इसकी क्रियान्वयन प्रक्रिया को देखते हुए एक प्रश्न सहज है कि कहीं यह विकसित देशों की साम्राज्यवादी नीति का एक हिस्सा तो नहीं?

बहरहाल, क्या रहा कोपेनहेगन में, क्या हो सकता है आगे, विश्व और देश के संदर्भ में आइये चर्चा को आगे बढ़ाते हैं पैरवी संवाद के इस अंक के साथ।

आपकी प्रतिक्रियाओं, सुझावों और सहयोग की अपेक्षा के साथ...

- संपादक मण्डल



क्या सच में ईमानदार हैं ?



- रजनीश

“पिछले कुछ सालों में गर्मी कितनी बढ़ी है?”

अगर आपका जलवायु परिवर्तन की बहसों, अखबारों या सामान्य ज्ञान के अन्य सूचना स्रोतों से अच्छा रिश्ता नहीं है और आप खुद पहले से इस तरह की जानकारी संग्रहित करने की इच्छा से प्रेरित नहीं रहे हैं तो आपका क्या जवाब होगा! ज़ाहिर सी बात है - “बहुत।”

आज जलवायु परिवर्तन या साधारण सी भाषा में कहें तो मौसम के बदलते मिजाज़ पर विशेषज्ञ आंकड़ों की भाषा में बात करते हैं पर जो इससे सबसे ज़्यादा प्रभावित हैं उनके पास आंकड़े नहीं हैं, शायद वो इस आंकड़ों की भाषा को समझते भी नहीं हैं, परन्तु उनके अनुभव, अनुभूति आंकड़ों की तुलना में जलवायु परिवर्तन को समझने के लिए कहीं ज़्यादा सशक्त हैं। इस “बहुत” शब्द के भी कितने मायने हो सकते हैं इसे उनके अनुभवों से बहुत अच्छे ढंग से समझा जा सकता है।

तमाम दुनिया के देश कार्बन उत्सर्जन, बढ़ती गर्मी की भयावहता पर बहस और निदान के समझौते के लिए करोड़ों रुपये खर्च करके बहस करते हैं और नतीजा ढाक के तीन पात सरीखा निकलता है, 7 से 18 दिसम्बर 2009 तक चली कोपेनहेगन वार्ता इसका ताज़ातरीन उदाहरण है। यह सुनना थोड़ा अजीब लगता है कि इस वैश्विक मुद्दे के कारण पर तो तमाम देश एकमत हैं परन्तु निदान के प्रयासों पर एकमत नहीं हो पाते। सारे देश कम होती कृषि उत्पादकता, लुप्त होती प्रजातियों, बढ़ते जा रहे खाद्य संकट जैसे तमाम बिंदुओं की बात करते हैं, निदान के लिए वन संरक्षण, जल संरक्षण, कार्बन उत्सर्जन में कमी की बात करते हैं पर आंकड़ों में बात करने वाले ये सभी देश निश्चित आंकड़ों में अपनी प्रतिबद्धता व्यक्त नहीं करते। इसमें आड़े आ जाती है विकास की गति। कोई भी अपनी तथाकथित विकास की गति से समझौता नहीं करना चाहता चाहे वह विकसित देश हों या फिर विकासशील। परिवर्तन हर कोई चाहता है पर अपेक्षा यह है कि पड़ोस से परिवर्तन शुरू हो। ठीक उसी तरह जैसे कहा जाता है कि हर कोई चाहता है कि भगतसिंह पैदा तो हो पर अपने नहीं पड़ोसी के घर में।

सन् 1972 से अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर जलवायु परिवर्तन पर प्रारंभ हुई बातचीत 2009 तक कई चरणों, समझौतों से गुज़र चुकी है। वैश्विक तपन की समस्या 2009 तक आते-आते आम आदमी की ज़िंदगी के सवाल में बदल चुकी है और इसके साथ ही बदल चुकी है वैश्विक आर्थिक राजनीति के केन्द्र बिंदु के रूप में भी। आज मालदीव की सरकार समुद्र के भीतर जाकर और नेपाल सरकार हिमालय के तल में बैठकर अपने समाप्त हो रहे अस्तित्व को बचाने की गुहार लगा रही है तो अन्य विकासशील देश अपने तथाकथित विकास का राग अलाप रहे हैं। और विकसित देशों के हाथ में कार्बन क्रेडिट का हथियार है जिसे वो विकासशील, अल्पविकसित देशों के सामने झुनझुने की तरह बजाने की तैयारी में हैं।

1972 में रियोडिजेनेरियो में हुए पृथ्वी सम्मेलन के बाद से लेकर आज तक इस वैश्विक तपन के लिए ज़िम्मेदार जिस कार्बन उत्सर्जन की बात की जाती रही है, और 1997 में हुए क्योटो समझौते, जिसमें कि कार्बन उत्सर्जन को कम करने का बिन्दु प्रमुख था (यह भी एक विडम्बना है कि जिस बिन्दु पर समझौता 1997 में हुआ वह कुछ ज़िद्दी देशों के चलते 2005 में लागू हो पाया) के बावजूद इन 37 सालों में कार्बन उत्सर्जन की मात्रा बढ़ी ही है। जिन देशों की ऐतिहासिक ज़िम्मेदारी बनती है उन्होंने हर क़रार को निभाने में कोताही की है। कारण सिर्फ एक ही है कि कोई भी अपनी विकास की प्रक्रिया से समझौता नहीं करना चाहता। सैद्धांतिक रूप से माना जाता है कि ग्रीन हाउस गैसों का अधिक उत्सर्जन वैश्विक और स्थानीय जलवायु के चक्र में परिवर्तन का कारण है, जिससे सूखा और बाढ़ जैसी आपदाओं की आवृत्ति बढ़ी है। दुनिया भर के देश अब इस फ़िक्क में हैं कि इस संकट की रफ़्तार को कम कैसे किया जाए बिना विकास प्रक्रिया को बाधित किए। दरअसल जलवायु परिवर्तन का मूल कारण हमारे विकास का ढांचा और विकास की परिभाषा है। जिस तरह की पर्यावरणविरोधी औद्योगिकीकरण और आर्थिक विकास की नीतियों को दुनियाभर की सरकारें प्रोत्साहन देती रही हैं उसने लोगों को सुविधाभोगी बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। और इसी सुविधाभोगी जीवनशैली का मोह कार्बन उत्सर्जन की मात्रा को बढ़ाता और जलवायु परिवर्तन के संकट को विकराल करता गया है। अब सवाल यह उठता है कि क्या हम विकास की इन्हीं परिभाषाओं और नीतियों के साथ चलते हुए इस संकट को कम कर सकते हैं?



विकास की गति और कार्बन उत्सर्जन में कमी तमाम देशों के लिए सर्वाधिक चिंता का विषय रहा है। जब भी कार्बन उत्सर्जन में कमी की बात आई सभी देशों ने अपनी विकास की गति की भी बात रखी है। और इस संदर्भ में विकासशील देशों ने क्योटो प्रोटोकॉल में वर्णित बराबरी परंतु असमानता के सिद्धांत का हवाला दिया है। सैद्धांतिक रूप से यह बात सही भी है कि विकासशील देशों को अपने विकास का अधिकार मिलना चाहिए। तय हुआ कि ऐसे देशों के विकास के लिए विकसित देश मदद करेंगे परंतु उत्सर्जन में कमी का समझौता बरकरार रहेगा। और फिर शुरू हुई अंतर्राष्ट्रीय स्तर की राजनीति और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार - कार्बन क्रेडिट, क्योंकि जलवायु परिवर्तन के मामले में ईमानदार कदम उठाने का सीधा तात्पर्य है अपने विकास की गति को धीमा करना, इसलिए रास्ता निकाला कार्बन क्रेडिट यानि तुम क्रेडिट कमाओ हम तुमसे खरीद लेंगे। सीधा-सीधा मतलब हम अपने उत्सर्जन में कमी नहीं करेंगे, हमारे बदले तुम करो, हम पैसे देकर भरपाई कर लेंगे। विकासशील देशों को आर्थिक सहयोग की दृष्टि से भले ही यह तर्क उचित हो परन्तु कार्बन उत्सर्जन की ज़िम्मेदारी निभाने की दृष्टि से और जलवायु परिवर्तन के संकट को कम करने की दृष्टि से यह

तर्कसंगत और न्याय संगत नहीं है। दरअसल पृथ्वी सम्मेलन से लेकर कोपेनहेगन सम्मेलन तक विकासशील और विकसित देशों के बीच मुख्य मतभेद अपनी विकास की गति का ही रहा है। सोचने वाली बात यह है कि आखिर यह कौन-से और किसके विकास की गति है? क्या दुनिया में रहने वाले कुछ सम्पन्न लोग ही विश्व हैं? कम से कम भारत के संदर्भ में तो यह बात साफ समझी जा सकती है कि हम किन विकास सिद्धांतों की बात कर रहे हैं। क्या जलवायु परिवर्तन का प्रकोप सबसे ज्यादा झेलने वाले वर्ग का इस विकास प्रक्रिया में कहीं दखल है।

तर्कसंगत और न्याय संगत नहीं है। दरअसल पृथ्वी सम्मेलन से लेकर कोपेनहेगन सम्मेलन तक विकासशील और विकसित देशों के बीच मुख्य मतभेद अपनी विकास की गति का ही रहा है। सोचने वाली बात यह है कि आखिर यह कौन-से और किसके विकास की गति है? क्या दुनिया में रहने वाले कुछ सम्पन्न लोग ही विश्व हैं? कम से कम भारत के संदर्भ में तो यह बात साफ समझी जा सकती है कि हम किन विकास सिद्धांतों की बात कर रहे हैं। क्या जलवायु परिवर्तन का प्रकोप सबसे ज्यादा झेलने वाले वर्ग का इस विकास प्रक्रिया में कहीं दखल है। दूसरी ओर यह भी कि आज जब जलवायु परिवर्तन पर अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हाय-तौबा मची हुई है तो राष्ट्रीय स्तर पर क्या प्रयास किये जा रहे हैं। चूंकि भारत विकासशील देशों की अगुवाई भी कर रहा था और निश्चित रूप से जलवायु परिवर्तन के चलते गंभीर रूप से प्रभावित होने वाले देशों में से एक है इसलिए अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय स्तर पर भारत की प्रतिबद्धता की बात करना लाज़िमी है।

यह तो स्पष्ट है कि विकास के जिन मूल्यों की बात की जाती है हमारी विकास की परिभाषा और प्रयासों से उन्हें स्थापित कर पाना अभी भी सपने की बात ही है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर यह बात बहुत प्रमुखता से कही जा रही है कि इस संकट से निपटने और एक नज़रिया बनाने के लिए विकास की परिभाषा और प्राथमिकताओं पर पुनर्विचार करने की बुनियादी ज़रूरत है और जवाबदेही एक अनिवार्य आवश्यकता। ठीक बात है, पर सवाल वही है - करेगा कौन? 1997 में क्योटो सम्मेलन हुआ, 2005 में क्योटो प्रोटोकॉल लागू हुआ, 2012 में समयावधि समाप्त हो जाएगी। अभी तक हुआ क्या ? जिन ग्रीनहाउस गैसों का उत्सर्जन 20 साल पहले के स्तर पर लाना था उनके उत्सर्जन में 14 प्रतिशत की और बढ़ोत्तरी हो गई।

सारे देश विकास का हल्ला तो खूब कर रहे हैं पर जीवन शैली की बात कहीं सुनाई नहीं देती, जबकि विकास और जीवन शैली का

बहुत नज़दीकी रिश्ता है। विकास के साथ-साथ जीवनशैली बदलती ही है। परंपराएँ, रहन-सहन, खान-पान सब कुछ बदलता है। जलवायु परिवर्तन का हमारे प्राकृतिक संसाधनों पर जो प्रभाव है सो तो है ही पर उसके लिए हमारी बदलती संस्कृति भी ज़िम्मेदार है। आई.पी.सी.सी. के अध्यक्ष आर.के. पचौरी का कहना है कि “हमारे खान-पान की बदलती संस्कृति ने भी जलवायु परिवर्तन में बड़ी भूमिका निभाई है। मांस के उपभोग को इसमें शामिल माना जाए। एक किलो मक्का के उत्पादन में 900 लीटर पानी लगता है परन्तु भैंस के एक किलो मांस के उत्पादन में 15,500 लीटर पानी की ज़रूरत होती है। पशुधन को अब मांस के नज़रिये से ज़्यादा और कृषि, पर्यावरण व आजीविका के नज़रिये से कम देखा जाता है। दुनियाभर के अनाज उत्पादन का एक तिहाई का उपयोग मांस के लिए जानवर पालने में होता है। एक व्यक्ति एक हेक्टेयर जमीन से सब्जियाँ, फल व अनाज उगाकर 30 लोगों के लिए भोजन की व्यवस्था कर सकता है किन्तु अगर इसी का उपयोग अण्डे, मांस, जानवर के लिए किया जाता है तो केवल 5 से 10 लोगों का ही पेट भर सकेगा।”

यह बहुत स्पष्ट है कि सिर्फ विकास नीतियों में बदलाव ही काफी नहीं होगा। आने वाले समय में जिन गंभीर समस्याओं के आने की संभावना व्यक्त की जा रही है जिनकी झलकियां यदा-कदा दिखने भी लगी हैं उनसे निपटने के लिए जीवनशैली में बदलाव की भी उतनी ही ज़रूरत होगी। आई.पी.सी.सी. की चौथी रिपोर्ट इस बात को प्रमुखता से उजागर भी करती है। निश्चित ही यह बदलाव भी कठिन होगा क्योंकि आराम-तलबी का गंभीर रोग सबको लग चुका है। और जब तक यह समझ विकसित नहीं होगी कि उपभोक्तावादी व्यवहार भी जलवायु परिवर्तन के मूल कारणों में से एक है तब तक इस रोग का इलाज संभव नहीं। फिर इसमें एक बात यह भी है कि “यथा राजा तथा प्रजा”। जब 1997 से लेकर आज तक मुखिया अपनी प्रतिबद्धता व्यक्त नहीं कर पाए तो लोग कैसे इतनी आसानी से बदलाव को अपना लें। □



क्या है कोपेनहेगन समझौते में ?

कोपेनहेगन में 7 से 18 दिसम्बर 2009 तक दुनिया के 192 देशों के मुखिया जलवायु परिवर्तन के संकट से उबरने के उपायों पर किसी समझौते के लिए एकत्रित हुए। तमाम बहसों हुईं, मसौदे प्रस्तुत किये गए, जिन पर दुनिया के सारे देश एकमत नहीं हो सके। अंततः अमेरिका, भारत, चीन, ब्राज़ील और दक्षिण अफ्रीका ने एकमत होकर एक समझौते पर अपनी स्वीकृति दी। कोपेनहेगन की सम्पूर्ण वार्ता और ज़द्दोज़हद के प्रतिफल के रूप में पाँच देशों के बीच हुआ यह समझौता सामने आया है। मज़े की बात यह है कि इस समझौते में कुछ भी बाध्यकारी नहीं है। आखिर इस समझौते में है क्या? ज़रा नज़र डालते हैं इस समझौते के बिंदुओं पर -

- ◆ समझौते के पहले बिंदु में वर्णित किया गया है कि इस सहमति पर हस्ताक्षर करने वाले देश जलवायु परिवर्तन की गंभीरता को समझते हैं और पृथ्वी के तापमान में दो डिग्री सेल्सियस से अधिक की वृद्धि नहीं होने देने की दिशा में मिलकर काम करेंगे;
- ◆ ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन में बड़े पैमाने पर कटौती की आवश्यकता है, ताकि पृथ्वी के तापमान को बढ़ने से रोका जा सके। लेकिन इस समझौते में यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि कौन-सा देश कितनी कटौती और कब तक करेगा;
- ◆ जलवायु परिवर्तन की वजह से ग़रीब देशों को जो क्षति उठानी पड़ रही है या जो नुकसान उन्हें भविष्य में उठाना पड़ सकता है उसे कम करने के लिए तत्काल कदम उठाने की ज़रूरत है। इसमें छोटे द्वीप देशों और अफ्रीका के ग़रीब देशों का खास तौर पर ज़िक्र किया गया है। लेकिन तत्काल उठाए जाने वाले कदम क्या होंगे, उनका कोई ज़िक्र नहीं है;
- ◆ सहमत होने वाले देश अपने-अपने देशों में ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन का हिसाब रखेंगे और एक तय फॉर्मेट के तहत इसकी सूचना देंगे कि उन्होंने कितनी कटौती की है। समझौते में कहा गया है कि गैसों के उत्सर्जन के लक्ष्य का हिसाब-किताब गंभीरता और पारदर्शिता के साथ किया जाएगा;
- ◆ समझौते पर हस्ताक्षर नहीं कर रहे देशों को भी हर संभव सहायता दी जाएगी और उनकी राष्ट्रीय सम्प्रभुता का सम्मान किया जाएगा। लेकिन यह भी कहा गया है कि अगर किसी देश को जलवायु परिवर्तन से निबटने के लिए कोई आर्थिक सहायता दी जाएगी तो उसके लिए एक तय प्रक्रिया का पालन किया जाएगा;
- ◆ जंगलों को बचाने और उनकी हालत सुधारने की बात कही गई है, लेकिन इस दिशा में क्या कदम होंगे इसका उल्लेख नहीं है;
- ◆ जो देश पहले से ही कम ग्रीनहाउस गैस उत्सर्जित करते हैं उन्हें आर्थिक प्रोत्साहन दिया जाए ताकि वे कम गैस उत्सर्जित करते हुए अपना विकास कर सकें;
- ◆ जलवायु परिवर्तन से निबटने के आर्थिक पक्ष के बारे में थोड़ी जानकारी दी गई है। इसी में कहा गया है कि वर्ष 2020 तक विकसित देश इस काम के लिए सौ अरब डॉलर के दीर्घकालिक कोष के लिए धन जुटाने की दिशा में मिलकर काम करेंगे। कहा गया है कि ये धन कई स्रोतों से आएगा और इस धन के उपयोग के लिए जो व्यवस्था बनेगी उसमें विकसित और विकासशील दोनों तरह के देशों को बराबर भागीदारी दी जाएगी। परंतु धन जुटाने के क्या प्रयास होंगे और क्या स्रोत होंगे साथ ही कौन-कौन से देश मिलकर यह प्रयास करेंगे यह स्पष्ट नहीं है;
- ◆ इस काम के लिए उच्चस्तरीय अंतर्राष्ट्रीय पैनल गठित किया जाएगा;
- ◆ विकासशील देशों को ग्रीन टेक्नॉलॉजी उपलब्ध कराने के लिए एक व्यवस्था बनाए जाने पर भी सहमति हुई है;
- ◆ सन् 2015 में इस समझौते के क्रियान्वयन का मूल्यांकन किया जाएगा जिसमें कि विज्ञान द्वारा प्रस्तुत किये गए विषयों जैसे कि तापमान में 1.5 डिग्री सेल्सियस की वृद्धि के संदर्भ में दीर्घकालीन लक्ष्यों को मज़बूत किया जाना शामिल किया जाएगा।

इस समझौते में कहा गया है कि तापमान में 2 डिग्री सेल्सियस से ज्यादा बढ़ोत्तरी न होने देने की दिशा में कार्य किया जाएगा मगर इस नज़रिये से अफ्रीकी देश अपने को आहत महसूस कर रहे हैं। उन्होंने न केवल अपने को इस बातचीत से अलग रखा बल्कि उनका मानना है कि इस वृद्धि से उन देशों पर आपदा टूट पड़ेगी। वे चाहते थे कि यह वृद्धि सिर्फ 1.5 डिग्री तक ही होनी चाहिए। जबकि आई.पी.सी.सी. की चौथी मूल्यांकन रिपोर्ट के अनुसार 1 डिग्री तापमान बढ़ने से ही ऊष्णकटिबंधीय देशों में खाद्यान्न के उत्पादन में भयंकर गिरावट आएगी, भूख व जलजनित बीमारियों में वृद्धि होगी, समुद्रतटीय इलाकों व देशों में मानव, वानिकी व जैव विविधता में अत्यधिक ह्रास के भी संकेत हैं।

दूसरे, क्योटो प्रोटोकॉल की अवधि बढ़ाने या सन् 2010 में कोई अन्य अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बाध्यकारी समझौता करने की दिशा में कोई कदम नहीं उठाए गए। क्योटो प्रोटोकॉल, जिसके प्रावधान कानूनी रूप से बाध्यकारी हैं, का अपने-आप को मुखिया कहने वाले देशों ने खुले तौर पर उल्लंघन किया है तो कोपेनहेगन समझौता, जिसमें कि कुछ भी बाध्यकारी नहीं है, की सफलता अपने आप में प्रश्न चिन्ह है। □



कोपेनहेगन समझौता:

क्या कहते हैं बाकी देश ?

- विनोद कोष्टी

कोपेनहेगन समझौते पर कुछ मुख्य देश व संस्थाओं की प्रतिक्रिया इस प्रकार है -

- ◆ कोपेनहेगन समझौते के अनुसार देश कार्बन उत्सर्जन में स्वेच्छा से कटौती कर सकते हैं। अगर कोई सरकार ऐसा नहीं करती है तो उसका कुछ नहीं किया जा सकता। ज्ञात रहे कनाडा ने क्योटो में कटौती की प्रतिबद्धता जताई थी, उसके बावजूद उसने अपने कार्बन उत्सर्जन को 26 प्रतिशत बढ़ा दिया फिर भी उसका कुछ नहीं हुआ। इस समझौते के बाद तो हर देश को खुली छूट मिल जाएगी।
- ◆ कोपेनहेगन समझौता मुख्यतः अमरीका और ऑस्ट्रेलिया की उपज है जिन्होंने बड़ी चालाकी से भारत, चीन, ब्राजील और दक्षिण अफ्रीका को अपने साथ ले लिया। इस समझौते में किसी प्रकार की कोई बाध्यता नहीं है, न ही कोई कानूनी प्रतिबद्धता। इसमें एक साधारण उद्देश्य दर्शाया गया है कि वैश्विक तपन को 2 डिग्री सेल्सियस से कम रखा जाएगा जबकि लोग 1-1.5 डिग्री सेल्सियस की मांग कर रहे हैं।
- ◆ वेनेजुएला के राष्ट्रपति ह्यूगो चावेज ने कहा कि जिस प्रकार से रातों-रात अमेरिकी राष्ट्रपति ओबामा ने यह दस्तावेज़ तैयार किया है उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। मैं यह स्वीकार नहीं कर सकता कि कुछ देश कोई दस्तावेज़ ले आएँ और सबसे हस्ताक्षर करने को कहें। ये बिल्कुल भी पारदर्शी नहीं है।
- ◆ बोलिविया के राष्ट्रपति इवो मोराले ने विश्व के कुछ नेताओं द्वारा अंतिम क्षणों में समझौते को भंग करने की निंदा की। अगर हम किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते तो हमें यह लोगों को बता देना चाहिए। चूँकि सारी ज़िम्मेदारी

मौजूद पूँजीवादी व्यवस्था की है, हमें इस व्यवस्था को बदल देना चाहिए।

- ◆ जी-77 प्रतिनिधिमण्डल के प्रमुख डी. एपिंग ने समझौते का विरोध करते हुए कहा कि जिस प्रकार से ओबामा ने यह कार्य किया है उनमें और बुश में कोई फ़र्क नहीं रह गया है।
- ◆ नाईजीरिया के पर्यावरणविद् व फ़्रेण्ड्स ऑफ द अर्थ इण्टरनेशनल के अध्यक्ष निम्मो बैसे ने कहा कि इस समझौते में न्याय नहीं किया गया। अपनी ज़िम्मेदारी को टाल कर अमीर देशों ने विश्व के अरबों गरीबों को भूखे मरने के लिए छोड़ दिया है।
- ◆ ग्रीन पीस ने कार्बन उत्सर्जन का कटौती लक्ष्य न होने व कोई बाध्यता न होने की आलोचना की।

कोपेनहेगन वार्ता के दौरान कई सारे प्रस्तावों को निरस्त कर दिया गया। इनमें से तीन ऐसे हैं जिन पर सहमति न बन पाना यह दर्शाता है कि विश्व के राजनेताओं की मंशा क्या है -

- ◆ अगर देश वाकई में कार्बन उत्सर्जन की कटौती के बारे में चिंतित हैं तो एक अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरण अदालत (International Environment Court) का गठन किया जाना चाहिए, जिसके पास यह शक्ति हो कि वह किसी भी देश को दण्डित कर सके।
- ◆ एक तरफ से सरकारें कहती हैं कि वे जीवाश्म ईंधन (Fossil Fuel) के इस्तेमाल में भारी कटौती करना चाहती हैं और दूसरी तरफ जीवाश्म ईंधन के लिए अंधाधुंध खुदाई और खोज चल रही है। एक शोध के अनुसार अगर हमें वैश्विक संकट से बचना है तो मौजूदा

खोज किए गए तेल, कोयला और गैस का 60 प्रतिशत से अधिक दोहन नहीं कर सकते। अर्थात् जीवाश्म ईंधन के लिए की जा रही नई खोजों पर प्रतिबंध लगाना चाहिए व साथ ही साथ यह भी तय किया जाना चाहिए कि किन-किन भण्डारों के इस्तेमाल में हम कमी करेंगे।

- ◆ वैश्विक तपन के 70 प्रतिशत ज़िम्मेदार अमीर देश हैं और इसका 70 प्रतिशत से ज़्यादा प्रभाव विकासशील देशों पर हो रहा है। हॉलैण्ड तो अपनी ज़मीन को बाढ़ से बचाने के लिए बड़े बांध बना सकता है मगर बांग्लादेश डूब सकता है। यहाँ कारण और प्रभाव के बीच उल्टा रिश्ता है। दोषी कभी खुद नहीं भुगतेगा। पूरे समझौतों के दौरान छोटे द्वीपीय देश अपने अस्तित्व को बचाने के लिए गिड़गिड़ाते रहे। लेकिन मानवजनित वैश्विक तपन को रोका जा सकता है इस विचार को ताक पर रख दिया गया और यह मान लिया गया कि कुछ लोगों को तो कुर्बानी देनी पड़ेगी। प्रस्ताव यह था कि हवाई जहाज की उड़ानें कम कर दी जाएँ और कर (Tax) बढ़ा दिए जाएँ जिसका प्रभाव कुछ मुट्टी भर लोगों पर पड़ेगा इसके बदले अक्षय ऊर्जा को बढ़ावा दिया जाए। लेकिन हमारे राजनेताओं को ये मंजूर नहीं था। उन्होंने कम कर और जीवाश्म ऊर्जा का ही रास्ता चुना, चाहे इसके लिए लोगों की जान ही दांव पर क्यों न लगानी पड़े।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि कोपेनहेगन में 5-6 देशों ने कितना बड़ा स्वांग रचा। खेदजनक यह है कि इसमें हमारा देश भी शामिल था। सारी महत्वपूर्ण बातों को दरकिनार कर सारे निर्णयों को अगले साल तक के लिए टाल दिया गया। अगले साल ये मेला फिर से लगेगा - मैक्सिको में। तब तक के लिए खुली छूट है उत्सर्जन करने के लिए और मुफ्त में मौत का खेल खेलने के लिए।

हमने 17 साल खोए हैं एक छोटी सी बात समझने के लिए। 17 वर्षों से हम कठपुतली की तरह नाच रहे हैं। अब भी हम यही आस लगाए बैठे हैं कि किसी कोपेनहेगन या मैक्सिको में इस समस्या का समाधान निकलेगा और तब तक चाहे यह ग्रह जलता रहे और करोड़ों गरीब मरते रहें। शायद आज भी हमें इन्तज़ार है किसी मसीहा का जो आकर हमें बचाएगा। □



कॉप 15 : आँखों देखी



कोपेनहेगन:

उत्साह, आशंकाएँ और आयोजन

- नलिनीकांत

दूध की नदियाँ सृजित करने वाले देश डेनमार्क की राजधानी कोपेनहेगन 6 दिसम्बर, 2009 से ही जलवायु परिवर्तन सम्मेलन में भाग लेने हेतु दुनिया के विभिन्न देशों से आने वाले सरकारी और गैर-सरकारी प्रतिनिधियों के स्वागत हेतु सज-संवर कर तैयार थी। वस्तुतः 6 दिसम्बर को शुरू होने वाले अधिवेशन में भाग लेने वालों की आवाजाही भी शुरू हो गई थी। प्रतिभागियों और उनके संगठनों में उत्साह स्पष्ट रूप से झलकता था। नई दिल्ली के अंतर्राष्ट्रीय हवाई अड्डे पर भी जब कोपेनहेगन जाने वाला यात्री किसी भी काउण्टर (सुरक्षा जांच, इमीग्रेशन आदि) पर पहुँचता तो कार्यवाही पूरी होते ही प्रायः सभी एयरपोर्ट अधिकारी कह उठते थे कि 'कोपेनहेगन में होने वाली चर्चा/संधि/समझौता वाकई समसामयिक/प्रासंगिक है। देखिए, दिसम्बर माह आ गया है पर अब पहले जैसी ठंड कहाँ !' कोपेनहेगन सम्मेलन की प्रतिध्वनि एयरबसों में भी स्पष्ट रूप से सुनाई पड़ती थी। एयरबसों में पढ़ने के लिए उपलब्ध अधिकांश सामग्री में जलवायु परिवर्तन एवं इसको संतुलित करने के उपायों का उल्लेख था। यूरोप की ओर जाने वाले लगभग सभी एयरबसों में अधिकांश यात्री एक-दूसरे से पूछते - 'क्या आप कोपेनहेगन जा रहे हैं?' कुछ यात्रियों के हाव-भाव, पहनावे से ही आप उनकी कोपेनहेगन यात्रा का अनुमान लगा सकते थे। कुल मिलाकर अधिकांश गैर-सरकारी प्रतिनिधियों में जलवायु परिवर्तन को रोकने की चिंता और इसे संतुलित करने की अकुलाहट स्पष्ट रूप से दिख रही थी।

बिगड़ती जलवायु की चिंताओं के साथ कोपेनहेगन के फलाफल को लेकर आशंकाएँ भी सभी प्रतिभागियों (सरकारी और गैर-सरकारी) के मन में थीं। मेट्रो, बसों में सफर करते समय कोपेनहेगन के नागरिक भी सहज पूछ बैठते थे - 'क्या इस सम्मेलन से कुछ निकलेगा? क्या विभिन्न देशों से आए कूटनीतिज्ञों में आम सहमति बन पाएगी?' आशंकाओं के ठोस आधार भी थे, जैसे - 'क्या सम्पन्न देश अपने आचरण/आदतों को बदल पाएँगे ताकि वे कम कार्बन उत्सर्जन कर पाएँ? संपन्न देशों की कूटनीति चौधराहटपूर्ण होगी या नए परिदृश्य में नए प्रणेता की तरह? क्या विकासशील देश (खासकर भारत, चीन, ब्राजील एवं कुछ अन्य अफ्रीकी/लातिन अमरीकी देश) विकास की इस अंधी दौड़ से अपने को अलग रख पाएँगे? आदि।' लोगों को लग रहा था कि कहीं यहाँ भी विकसित देशों द्वारा वैसी ही चाल तो नहीं खेली जाएगी जैसी परमाणु निःशस्त्रीकरण में खेली गई। यानि जब तक विकसित देश परमाणु अस्त्र बनाते रहे तब तक तो सब कुछ ठीक था, परन्तु ज्यों ही विकासशील देश परमाणु अस्त्र बनाने लगे त्यों ही उन्हें विश्व की शांति/अहिंसा की चिन्ता सताने लगी। हाल के इराक/ईरान में अमेरिकी हस्तक्षेप लोगों को और भी डरा रहे थे। यानि कहीं जलवायु परिवर्तन के नाम पर ऐसे अंतर्राष्ट्रीय कानूनों को न गढ़ा जाए जिनका इस्तेमाल किसी विकासशील या अविकसित देश को डराने/हमकाने के लिए किया जाए।

इन्हीं आशंकाओं को लेकर पूरा अधिवेशन प्रारंभ होने से पहले ही दो फॉक हो चुका था। एक सरकारी और अंतर्राष्ट्रीय कानूनों से बंधा, जिसका आयोजन स्थल बेला सेंटर था; वहीं गैर-सरकारी, जन संगठनों, स्वयं सेवी संस्थाओं एवं अन्य परिवर्तनकारी समूहों द्वारा एक अन्य समानान्तर सम्मेलन 'क्लीमा फोरम 2009: पीपल्स क्लाइमेट समिट' के नाम से चलाया जा रहा था। दोनों आयोजन स्थलों पर लोगों के प्रतिवाद से यह स्पष्ट था कि राष्ट्रीय व्यवस्था कैसी भी - लोकतांत्रिक, साम्यवादी, पूँजीवादी, राजतांत्रिक आदि - क्यों न हो, अमूमन अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर उनकी सरकार अपने देश के आम लोगों की भावनानुरूप आचरण नहीं कर पाती है। 'क्लीमा फोरम' के ऑरेंज, ग्रीन, पर्पल, ब्लू हॉल तथा ब्राउन, रेड, येलो रूमों में व्याख्यानों/संवादों का सिलसिला 8 दिसम्बर 2009 से प्रारंभ हुआ। 'क्लीमा फोरम' में आयोजित अधिकांश चर्चाएँ/गोष्ठियाँ ज़मीनी समस्याओं से जुड़ी थीं और अधिकांश वक्ताओं का पहले से भी परिवर्तनकारी समूहों से गहरा सरोकार रहा था। 'फॉसिल फ्यूल, द ब्लैसिंग देट बिकेम ए कर्स, टुवार्ड्स पीपल्स ट्रिब्यूनल, क्लाइमेट राइट फॉर क्लाइमेट रिफ्यूजी, क्लाइमेट जस्टिस, क्लास सॉल्यूशन, रीथिंक द फ्यूचर' आदि विषयों पर चर्चा रोचक रही। नोएमी क्लेइनी तथा वंदना शिवा के व्याख्यान सर्वाधिक आकर्षक थे। खचाखच भरा हॉल पूरी तन्मयता से इनकी बातों को सुनता था।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि बेला सेंटर सरकारी कार्यक्रमों का केन्द्र बिंदु था। ज़ाहिर तौर पर यहाँ काफी तामझाम था जैसे कि पास का झंझट, सुरक्षा जांच की अनवरत प्रक्रिया आदि। यहाँ विभिन्न सरकारी, गैर-सरकारी, कॉरपोरेट आदि संस्थाओं की ओर से स्टॉल भी लगाए गए थे। स्टॉल लगाने में सरकारी और कॉरपोरेट जगत की संस्थाओं का वर्चस्व रहा। ऐसी संस्थाएँ जलवायु संतुलन की आड़ में अपने व्यापार की नई संभावनाओं को तलाशने एवं संभावित ग्राहकों के मिजाज़ को भांपने आई थीं। पत्रकारिता जगत के प्रतिनिधियों के लिए अलग से व्यवस्था की गई थी। कहा गया कि दुनिया के विभिन्न कोनों के पाँच हजार से अधिक पत्रकारों ने इस कार्यक्रम में शिरकत की। विभिन्न देशों से आए सरकारी मेहमानों के लिए अलग-अलग केबिन बनाए गए थे। बेला सेंटर के आकर्षण का केन्द्र था - साइड इवेंट। साइड इवेंट में भाग लेने हेतु लोगों में अफरातफरी मची रहती थी और लोग अपने पसंद के साइड इवेंट्स में जाने हेतु इंतज़ार करते रहते थे। वक्ताओं के व्याख्यान के बाद श्रोताओं के साथ संवाद साइड इवेंट को जीवंत बना देता था।

(श्री नलिनीकांत झारखण्ड के दुमका जिले में रहते हुए समाज कार्य में निरंतर सक्रिय हैं। कोपेनहेगन वार्ता में भारत के 'बियोण्ड कोपेनहेगन' समूह के सदस्य के रूप में सम्मिलित रहे हैं।)



जलवायु परिवर्तन समझौतों में कृषि

क्लीमा फ़ोरम में ही कृषि को एक महत्वपूर्ण स्थान मिला, पर COP-15 में इसे केवल व्यापार तथा वस्तु के रूप में ही देखा गया है। COP-15 कृषि के औद्योगिक पहलुओं, जैसे कि ऊँचे मूल्य तथा बड़ी तकनीक को ही समझता है तथा समझौतों में इसके बाज़ार तथा लाभ की ही बात की जाती रही है।

बैठक के दौरान कोपेनहेगेन समझौतों में कृषि को शामिल किए जाने पर प्रमुखता से चर्चा की गई। इन समझौतों में कृषि के औद्योगिक स्वरूप की चर्चा होती रही है, जबकि इसके पारम्परिक पहलू को हमेशा नज़रअन्दाज़ किया जाता रहा है। क्लीमा फ़ोरम में ही कृषि को एक महत्वपूर्ण स्थान मिला, पर COP-15 में इसे केवल व्यापार तथा वस्तु के रूप में ही देखा गया है। COP-15 कृषि के औद्योगिक पहलुओं, जैसे कि ऊँचे मूल्य तथा बड़ी तकनीक को ही समझता है तथा समझौतों में इसके बाज़ार तथा लाभ की ही बात की जाती रही है। जहाँ तक तकनीक का सवाल है, COP-15 कृषि में केवल जैविक तकनीक तथा मशीनीकरण की बात करता है, कि कुछ ही देशों से सबन्धित मामले हैं। जबकि किसानों की बातें सुनना ही एकमात्र समाधान हो सकता है। पिछले कुछ सालों में किसानों पर अधिक से अधिक उत्पादन का दबाव बनाया जा रहा है, जिससे वे Bioagriculture की ओर मुड़ रहे हैं। ऐसा केवल बाज़ार की आवश्यकता को पूरा करने के लिए किया जाता रहा है। फलस्वरूप, कृषि

का स्वरूप बिगड़ने के साथ-साथ मिट्टी और पर्यावरण पर भी गहरा प्रभाव पड़ रहा है। विकासशील देशों में कृषि मामलों हेतु आंकड़े जुटाना काफी मुश्किल हो चुका है खास तौर से स्थानीय आंकड़े। चूंकि इन दशों में कृषि एक परम्परा के रूप में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित होती रही है, इन देशों में अब पर्यावरणीय परिस्थितियों का आंकलन काफी मुश्किल हो चुका है।

इससे जुड़ा एक अन्य पहलू उत्तर तथा दक्षिण दिशाओं के बीच एक तुलनात्मक अध्ययन की माँग करता है। एकफसली (monoculture) के कारण, उत्तर दक्षिण को प्रभावित कर रहा है। वन तेजी से कृषि योग्य भूमि में परिवर्तित हो रहे हैं, जिससे कि उत्पादन व्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। इससे प्रतिकूल उत्सर्जन की दर बढ़ रही है। उदाहरणार्थ, नीदरलैंड जैसे छोटे से देश की कृषि व्यवस्था 11 प्रतिशत प्रदूषण का योगदान कर रही है। अतः इस व्यवस्था के दुष्परिणामतः पर्यावरणीय तथा सामाजिक पारस्थितिकीय परिवर्तन आ रहे हैं। अतः कृषि में स्थायित्व होना चाहिए।

खास तौर से 1999 की तुलना में विकासशील देशों का उत्सर्जन 17 प्रतिशत बढ़ चुका है। बढ़ती जनसंख्या, अनुपयुक्त कृषि तकनीक तथा अव्यावहारिक व्यापार नीतियाँ इसकी ज़िम्मेदार हैं। कृषि में स्थायित्व जैव-विविधता एवं मृदापोषण पर निर्भर करता है। इन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु यह देखना आवश्यक है कि अनुकूलन कोष का उपयोग कैसे किया गया है, क्या निर्णय लिए गए हैं तथा इनका अनुपालन कहाँ और कैसे किया जा रहा है। उदाहरणार्थ - यूरोपीय देशों में प्रोत्साहन मिलने के पर नाइट्रोजन खाद का उपयोग जब अफ्रीकी देशों में किया गया तो मृदा के जहरीले होने की घटनायें सामने आयी तथा मिट्टी इसकी आदी हो गयी।

फिलीपींस में एक पैनल ने यह विचार दिया कि जैव ईंधन पर्यावरण संरक्षण का एक प्रमुख कारक है, अतः इसका उपयोग एवं व्यापार बढ़ाने की ज़रूरत पर बल दिया गया। विदेशी कम्पनियों ने आबादी वाली ज़मीनें जैव ईंधन के निर्माण हेतु हथिया लीं तथा इसके दो दुष्परिणाम देखने को मिले : जनता भूमिहीन हो गई, वे स्वयं को असुरक्षित महसूस करने लगे तथा ज़मीन का एकफसलीय खेती के लिए उपयोग किया जाने लगा।

अन्त में अनुकूलन तथा कृषि के सम्बन्धों की चर्चा की गई। इस बात की ज़रूरत महसूस की गई कि जलवायु परिवर्तन के कृषि पर गंभीर परिणामों से निपटने के लिए यह अति-आवश्यक है कि किसानों को निर्णय करने का अधिकार देना चाहिए। स्थानीय भूमि की अपनी स्थानीय आवश्यकताएँ होती हैं तथा अपनी स्थानीय योजनाएँ। खास तौर पर किसानों को इस बात की जानकारी होनी चाहिए कि क्या हो रहा है, तथा उनके पारम्परिक ज्ञान का उपयोग किया जाना चाहिए।





कॉप 15 : प्रतिरोध

जलवायु परिवर्तन के लिए अब तक का सबसे बड़ा प्रदर्शन



कोपेनहेगन में हुए अंतर्राष्ट्रीय समझौतों के दौरान अब तक का विश्व का सबसे बड़ा प्रदर्शन आयोजित किया गया। 7 से 18 दिसम्बर 2009 तक चली इस वार्ता के प्रथम एक हफ्ते तक विभिन्न राष्ट्रों के नेताओं के निराशापूर्ण रवैये को देखने के बाद 12 दिसम्बर को डेनमार्क की राजधानी में एक अभूतपूर्व प्रदर्शन आयोजित किया गया। इस प्रदर्शन में करीब एक लाख लोग शामिल हुए जबकि स्थानीय पुलिस इनकी संख्या तीस हजार बताती है। 55,000 की आबादी वाले शहर कोपेनहेगन में 1,00,000 प्रदर्शनकारियों की रैली का नज़ारा देखने वाला था। कोई पेंगुइन का रूप धारण किये हुए था तो किसी ने पोलर बियर का वेष धरा था।

यह प्रदर्शन शांतिपूर्ण ढंग से बेहद व्यवस्थित रूप से आयोजित किया गया। प्रदर्शनकारियों की एकमात्र मांग यह थी कि वार्ता का निष्कर्ष एक निर्णायक समझौते के रूप में निकले। इस प्रदर्शन में भारत के “बियोण्ड कोपेनहेगन” समूह, जिसका पैरवी भी एक सदस्य है, ने भी भाग लिया।

प्रदर्शनकारियों के खिलाफ स्थानीय पुलिस का दमनकारी वर्ताव रहा। करीब 70 से भी ज़्यादा लोगों को पुलिस ने हिरासत में लिया। कई लोगों को सिर्फ इस बिना पर हिरासत में लिया गया कि उन्होंने अपने मुँह ढंक रखे थे। पुलिस का कहना है कि नकाब पहनना डेनमार्क में गैरकानूनी है। स्थानीय प्रशासन के इस रवैये की पूरे विश्व में काफी निंदा हुई।

12 दिसम्बर 2009 का दिन जलवायु परिवर्तन के विरुद्ध वैश्विक दिवस के रूप में कई देशों में मनाया गया व रैलियाँ निकाली गईं। इन देशों में ऑस्ट्रेलिया व फिलीपीन्स भी शामिल हैं। जलवायु परिवर्तन से निपटने के लिए चल रहे प्रयासों से यह साफ झलकता है कि हर कोई अपना राग अलाप रहा है और अपना फायदा ढूँढने की कोशिश कर रहा है। आम आदमी या समाज की किसी को अगर कोई परवाह है तो वह ढकोसला भर ही है। जलवायु परिवर्तन की सबसे बड़ी मार ग़रीब व वंचित समुदाय पर पड़ी है जिनके पास इससे निपटने के साधन नहीं हैं।

कोपेनहेगन में आयोजित इस जनसंघर्ष ने विश्व के तमाम बड़े नेताओं को यह स्पष्ट कर दिया है कि अब उनकी मनमानी नहीं चलने वाली और उन्हें लोकहित में ऐसे निर्णय लेने होंगे जिससे संसार और समाज का भला हो।



बोलिविया



शिखर सम्मेलन

दिसम्बर 2009 में हुए कोपेनहेगन सम्मेलन (COP 15) में जो समझौता हुआ उसे “कोपेनहेगन एकोर्ड” के नाम से जाना जाता है। इस सम्मेलन में 196 देश शामिल थे। कोपेनहेगन एकोर्ड कहा जाने वाला दस्तावेज़ अमेरिका और बेसिक देश (ब्राजील, दक्षिण अफ्रीका, भारत और चीन) ने आपस में मिलकर तैयार किया। सम्मेलन के अंतिम दिन मात्र 25 देशों से चर्चा कर इसे अपना लिया गया। यह और बात है कि बाद में दूसरे देश भी इसमें शामिल हो गए। इस तरह यह कहने की ज़रूरत नहीं है कि जिस प्रक्रिया के तहत कोपेनहेगन एकोर्ड को तैयार किया गया, उसमें पारदर्शिता का अभाव है। दूसरी चिंताजनक बात यह है कि इसमें कोई लक्ष्य निर्धारित नहीं किया गया, किसी प्रकार की कोई अवधि तय नहीं की गई और तकनीकी विकास पर भी कोई सटीक कार्यक्रम या कोष की बात नहीं की गई। अब आप ही बताएँ इसे संयुक्त राष्ट्र का दस्तावेज़ माना जाए या बहुराष्ट्रीय (कुछ देशों का) स्वार्थ!

कोपेनहेगन एकोर्ड के मुख्य बिन्दु -

- ♦ जलवायु परिवर्तन के कारण हो रही तापमान में वृद्धि को 2 डिग्री सेल्सियस तक सीमित रखने का एक दीर्घकालीन लक्ष्य
- ♦ विकसित व विकासशील, दोनों ही तरह के देशों द्वारा कार्बन उत्सर्जन में कटौती के कार्यक्रमों के लिए प्रतिबद्धता व मूल्यांकन की प्रणाली
- ♦ नए वित्तीय संसाधनों की व्यवस्था

सूडान, वेनेजुयेला और बोलिविया जैसे देशों के विरोध के कारण कोपेनहेगन एकोर्ड को औपचारिक रूप से पारित नहीं किया जा सका। बस यह तय किया गया कि 31 जनवरी 2010 तक सारे देश स्वैच्छिक रूप से अपनी-अपनी

प्रतिबद्धता UNFCCC सचिवालय में भेज देंगे। 10 फरवरी 2010 तक 67 देशों (जहाँ से 80 प्रतिशत तक कार्बन उत्सर्जित होता है) द्वारा कार्बन उत्सर्जन को कम करने के लक्ष्य प्राप्त हुए। इन देशों में अमेरिका, यूरोपियन यूनियन के सदस्य देश, जापान, चीन, भारत, ब्राजील, दक्षिण अफ्रीका और इण्डोनेशिया शामिल हैं।

कोपेनहेगन एकोर्ड के बारे में यह समझना बेहद ज़रूरी है कि यह एक तरह का राजनीतिक घोषणा-पत्र है, जिसमें किसी प्रकार की कोई वैधानिक प्रतिबद्धता नहीं है। 67 देशों से कार्बन उत्सर्जन को कम करने के जो ज्ञापन आए हैं विशेषज्ञों द्वारा किये गए उनके आंकलन से यह पता चलता है कि उससे तापमान वृद्धि को 2 डिग्री सेल्सियस तक सीमित नहीं रखा जा सकेगा। अगर इस प्रस्ताव को पूरी तरह से क्रियान्वित भी कर दिया जाए तो भी वैश्विक तापमान करीब 3.9 डिग्री सेल्सियस तक बढ़ जाएगा। ज्ञात रहे कि कोपेनहेगन सम्मेलन में कई छोटे द्वीपीय देश तापमान को 1.5 डिग्री सेल्सियस तक सीमित रखने की मांग कर रहे थे जिसे कि नज़रअंदाज़ कर दिया गया।

कुल मिलाकर देखा जाए तो कोपेनहेगन एकोर्ड की व्यापक आलोचना हुई है। अधिकतर लोग यहां तक कि वे देश भी जिन्होंने हस्ताक्षर किये हैं - कोपेनहेगन एकोर्ड से असंतुष्ट ही नहीं इसे अपर्याप्त भी मान रहे हैं। यह एक कमज़ोर समझौते के रूप में सामने आया है जिसमें यह कहीं नहीं कहा गया है कि विकसित देश विकासशील देशों को जलवायु परिवर्तन के वर्तमान और

भविष्य की चुनौतियों का सामना करने में किस प्रकार मदद करेंगे।

कोपेनहेगन की नाकामयाबी और आगे की रणनीति तय करने के लिए बोलिविया ने शिखर वार्ता का आयोजन किया है जिसमें विश्व के सभी बड़े आंदोलन भाग लेंगे। 19 से 22 अप्रैल 2010 तक यह सम्मेलन एक वैश्विक जनमत संग्रह करने का प्रयास करेगा साथ ही यह मांग करेगा कि संयुक्त राष्ट्र के अंतर्गत एक जलवायु न्याय अदालत (Climate Justice Court) का गठन किया जाए। बोलिविया के राष्ट्रपति इवो मोराले के अनुसार इस सम्मेलन के द्वारा एक जनमत तैयार किया जाएगा जिससे 2011 में मैक्सिको में होने वाली COP 16 वार्ता में कुछ सटीक निर्णय लिये जा सकें।

पृथ्वी को बचाने के लिए चल रहे प्रयासों को अभी भी बाज़ार और उसकी ताकतें अपने हिसाब से तोड़-मरोड़ रही हैं। इन प्रयासों में लोग और लोकहित नदारद है। जब तक इस समस्या से प्रभावित लोगों का व्यापक जनाधार नहीं बन जाता तब तक शायद हम इसी प्रकार कठपुतली की तरह नाचते रहेंगे। मज़ेदार बात तो यह है कि अभी तक प्रभावित लोगों को इस समस्या की सही अनुभूति नहीं हो पाई है अन्यथा कोपेनहेगन हमें निराश नहीं करता। अब यह हमारे हाथ में है कि हम बोलिविया में किस प्रकार की तैयारी कर पाते हैं और मैक्सिको तक किस नतीजे पर पहुँचते हैं। हमें यह भी तय करना बाकी है कि क्या यह बहस विकसित और विकासशील देशों के बीच है क्योंकि देश के अंदर भी इसके विभिन्न रूप मौजूद हैं।



कार्बन ट्रेडिंग:

जलवायु सुधार या बाज़ार निर्माण ?

- रजनीश



कुछ शब्दों के अंतर्संबंधों पर एक नज़र डालने से शुरू करना शायद ठीक होगा।

जलवायु परिवर्तन	-	वैश्विक तपन
वैश्विक तपन	-	ग्रीन हाउस गैस
ग्रीन हाउस गैस	-	कार्बन उत्सर्जन
कार्बन उत्सर्जन	-	औद्योगिकीकरण
औद्योगिकीकरण	-	सुविधाएँ
सुविधाएँ	-	बाजार
बाजार	-	खरीद फरोख्त
खरीद फरोख्त	-	क्रेता विक्रेता

अब क्रेता और विक्रेता के बीच के संबंध की व्याख्या करने की शायद आवश्यकता नहीं है। सीधा सा संबंध है राशि के आदान-प्रदान का। सामान्यतः इस संबंध में विक्रेता ही लाभ कमाता है। परन्तु कार्बन क्रेडिट की सौदेबाजी में यह समीकरण थोड़ा उल्टा हो जाता है। इस सौदेबाजी में क्रेता लाभान्वित होगा। हाँ यह अलग बात है कि विक्रेता यश प्राप्त करेगा कि उसने अपना कार्बन उत्सर्जन कम किया और जलवायु को बचाने में अपना अमूल्य योगदान दिया। परन्तु असल में उसका यह योगदान किसी काम नहीं आएगा। अगर क्रेता वनीकरण के ज़रिए कार्बन ट्रेडिंग को अपनाए तो बात अलग है, तब यह योगदान काम आ सकता है। पर जब बाज़ार में क्रेता-विक्रेता और खरीद-फरोख्त के लिए माल, दोनों मौजूद हों तो लाभ कौन नहीं कमाना चाहेगा।

फिलहाल कार्बन ट्रेडिंग को एक ऐसे उपाय के रूप में देखा जा रहा है जिससे विकास की प्रक्रिया भी बाधित न हो और कार्बन उत्सर्जन में कमी को भी प्रोत्साहन मिले। पर जलवायु परिवर्तन के संकट को कम करने में यह कितना सार्थक साबित होगा इसके लिए कार्बन ट्रेडिंग की नीति को समझना होगा।

इसकी शुरुआत होती है सरकारी नियामक एजेंसी से जो कि प्रत्येक इंडस्ट्री या एजेंसी के ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन की सीमा तय कर देती है। यह सीमा कार्बन टन में होती है। यदि किसी कंपनी की सालाना सीमा 100 टन निर्धारित की गई है और वह अपना उत्सर्जन मात्र 90 टन ही करती है तो वह 10 टन कार्बन क्रेडिट कमाती है, जिसे कि वह अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में बेच सकती है। अब सवाल यह है कि इसे खरीदेगा कौन? इसी उदाहरण को दूसरे तरीके से देखने पर इसे समझा जा सकता है। यदि किसी कंपनी के लिए सालाना सीमा 100 टन निर्धारित की गई है और उसका उत्सर्जन 110 टन हो जाता है तो ऐसी स्थिति में नियामक एजेंसी उस कंपनी पर जुर्माना लगा सकती है या उसका लाइसेंस रद्द हो सकता है। ऐसे में यह कंपनी किसी अन्य कंपनी से 10 टन कार्बन क्रेडिट खरीदकर अपना हिसाब बराबर कर सकती है और जुर्माने से बच सकती है। यहाँ यह बात तो ठीक है कि कुल मिलाकर दोनों कंपनियों के लिए निर्धारित सीमा अर्थात 200 टन ही उत्सर्जन होता है परन्तु व्यावहारिक रूप से यह एक घालमेल ही है, क्योंकि अभी अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में कार्बन की कीमत प्रति टन 15-17 डॉलर के करीब है तो समृद्ध देशों की समृद्ध कंपनियों के सामने कार्बन क्रेडिट खरीदना कोई मुश्किल सवाल नहीं है। फिर भी यह संभावना तो बराबर है कि कम से कम आर्थिक क्षति हो इसलिए कंपनियाँ उत्सर्जन कम करने के लिए प्रोत्साहित हों।

अपने को जुर्माने से बचाने का एक रास्ता कंपनियों के पास वनीकरण भी है। इसके तहत यदि कोई कंपनी निर्धारित सीमा से अधिक उत्सर्जन करती है तो इसकी क्षतिपूर्ति के लिए वह अपने या किसी अन्य देश में वनीकरण कर सकती है। यह वनीकरण उतना होगा जिससे कि सालाना उतना कार्बन सोखा जा सके जितना वह कंपनी पैदा कर रही है। एक तीसरा रास्ता ग्रीन तकनीक उपलब्ध कराने का भी है। उदाहरण के लिए यदि एक कार निर्माता कंपनी 100 कारें बनाती है जो उसके लिए सालाना निर्धारित सीमा से 1000 टन अधिक कार्बन का उत्सर्जन करती हैं। वही कंपनी नई तकनीक का इस्तेमाल करके 20 कारें ऐसी बनाती है जो सालाना इस 1000 टन उत्सर्जन की भरपाई कर देती हैं। ऐसी स्थिति में कंपनी को न तो कार्बन क्रेडिट खरीदना पड़ेगा और न ही अधिक उत्सर्जन का दण्ड भुगतना पड़ेगा।



इन तीनों उदाहरणों का थोड़ा सा विश्लेषण करने पर कुछ तथ्य सामने आते हैं। पहला यह कि इस कार्बन ट्रेडिंग से विकासशील देशों में क्रेडिट कमाने वाली कंपनियों को क्रेडिट बेचकर आर्थिक लाभ होगा। परंतु जिन विकसित देशों की कंपनियाँ इस क्रेडिट को खरीदेंगी क्या उनके उत्सर्जन में कमी हुई। एक कंपनी ने जितना उत्सर्जन कम किया दूसरी ने उतना ही अधिक किया तो कार्बन उत्सर्जन कम कहाँ हुआ। यह तो ठीक वैसा ही हुआ कि प्रदूषण कम करने के लिए एक आदमी मोटरसाइकल बेच दे और पड़ोसी वही मोटरसाइकल खरीद ले। दूसरी तरफ पहला उदाहरण यह भी स्पष्ट करता है कि क्रेडिट कमाने वाला सिर्फ क्रेडिट बेचकर लाभ कमाएगा, जबकि खरीदने वाला अपने उत्पादों के ज़रिये उससे कहीं अधिक लाभ कमाएगा। विश्व बैंक के मुताबिक कार्बन का वैश्विक बाज़ार 2005 तक महज 11 अरब डॉलर था जो 2007-08 में 64 अरब डॉलर तक पहुँच गया है। इसी से स्पष्ट होता कि कार्बन व्यापार तो ज़ोरों पर है लोग आर्थिक रूप से लाभान्वित भी हो रहे हैं परंतु कार्बन उत्सर्जन का ग्राफ देखें तो पता चलता है कि उत्सर्जन में कमी के बजाय वृद्धि ही हुई है। दूसरा रास्ता जो वनीकरण के ज़रिए क्षतिपूर्ति करने का है, उसके संदर्भ में सिर्फ एक बात ध्यान देने योग्य है। वह यह कि इस साल किसे गए उत्सर्जन की क्षतिपूर्ति के लिए जो वनीकरण किया जाएगा क्या वह त्वरित रूप से प्रभावी होगा और किस हद तक? बढ़ती जा रही गर्मी, कम होते जल स्तर, ज़मीन के बदलते व्यवहार में यह वनीकरण कितना स्थाई होगा? यदि 100 पेड़ लगाए गए और उनमें से 30 सूख गए तो इस आनुपातिक समीकरण का क्या होगा?

और तीसरा रास्ता तो और भी मज़े का है! उदाहरण के ज़रिए ही समझें तो

100 कारें बनाकर 1000 टन अधिक उत्सर्जन किया, 20 नई तकनीक की कारें बनाकर हिसाब बराबर किया और ज़ुमाने से बचे। अब ज़रा देखिये कि उत्सर्जन तो निर्धारित सीमा से 1000 टन अधिक हो ही गया। यह 20 कारें उस 1000 टन के कार्बन को सोख तो नहीं लेंगी, वह तो वायुमण्डल में जा ही चुका है। कोई ज़ुमाना नहीं भरना पड़ा तो झंझटों से मुक्ति भी मिली और 120 कारों के विक्रय से मुनाफा भी।

इन उदाहरणों से यह न समझें कि यह स्थिति इन्हीं उद्योगों की होगी। कार्बन ट्रेडिंग की यह नीति उन सभी उद्योगों और कंपनियों के लिए है जिनका कार्बन उत्सर्जन से वास्ता है। हाँ उद्योगों के प्रकार, आवश्यकता आदि पर आधारित कुछ सूक्ष्म परिवर्तन हो सकते हैं पर वे क्या होंगे यह अभी स्पष्ट नहीं है। परन्तु मूलतः नीति एक-सी ही होगी।

तो अंततः अमीर देशों के पास खरीदने की क्षमता है तो वे खरीदेंगे, विकासशील अर्थव्यवस्था के देश बचा सकते हैं तो बचाएंगे और कार्बन क्रेडिट से पैसा कमाएंगे। ऐसा करने से विकासशील देशों को दंभ होगा कि उन्होंने जलवायु परिवर्तन के संकट को कम करने में अपना अमूल्य योगदान दिया। अमीर देशों को तुष्टि होगी कि उन्होंने विकासशील देशों को व्यापार के ज़रिये ही सही आर्थिक सहायता प्रदान की और जलवायु परिवर्तन के संकट से बचाया। परन्तु मूल प्रश्न अपनी जगह कायम है - क्या ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में वांछित कमी हो पाएगी?

आखिर यह जलवायु परिवर्तन के संकट को कम करने का ईमानदार प्रयास है या वैश्विक स्तर पर एक नए और वृहद बाज़ार का निर्माण !



गुलामी

मनुष्य के कल्याण के लिए
पहले उसे इतना भूखा रखो
कि वह और कुछ सोच न पाए
फिर उसे कहो कि तुम्हारी
पहली ज़रूरत रोटी है
जिसके लिए वह
गुलाम होता भी मंजूर करेगा
फिर तो उसे
यह बताता रह जाएगा कि
अपनों की गुलामी
विदेशियों की गुलामी से
बेहतर है
और विदेशियों की गुलामी
वे अपने करते हैं
जिनकी गुलामी तुम करते हो
तो वह भी क्या बुरी है
तुम्हें रोटी तो मिल रही है
एक जून.

- रघुवीर सहाय.



जलवायु परिवर्तन पर राष्ट्रीय कार्य योजना

“लोगों की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए धरती पर पर्याप्त साधन मौजूद हैं, लेकिन लोगों की लालसाओं की पूर्ति करने के लिए ये संसाधन कभी पर्याप्त नहीं होंगे”

- महात्मा गांधी

भारत के सम्मुख जलवायु परिवर्तन के वैश्विक खतरे से निपटने के साथ-साथ तेजी से विकसित हो रही अपनी अर्थव्यवस्था को बनाए रखने की चुनौती भी है। दीर्घकाल से मानवजनित ग्रीन हाऊस गैस उत्सर्जनों के वातावरण में संचित होने, तीव्र औद्योगिक प्रगति तथा विकसित देशों में उच्च खपत जीवन शैलियों के कारण यह खतरा उत्पन्न हुआ है। हालांकि, भारत द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के साथ मिलकर सामूहिक और सहयोगात्मक ढंग से इस खतरे का सामना करने का प्रयास किया जा रहा है, फिर भी भारत को सबसे पहले जलवायु परिवर्तन के प्रति स्वयं को अनुकूलित करने तथा दूसरे, भारत के विकास पथ की पारिस्थितिकीय सततता को आगे बढ़ाने के लिए एक राष्ट्रीय कार्यनीति की आवश्यकता है।

इस संबंध में भारत का दृढ़ निश्चय है कि अपने विकास संबंधी लक्ष्यों को पूरा करने के लिए आगे काम जारी रखते हुए भी यहाँ प्रति व्यक्ति ग्रीन हाऊस उत्सर्जनों का स्तर किसी भी रूप में विकसित देशों के स्तर से अधिक नहीं होगा।

इन सभी बातों को मद्देनजर रखते हुए सरकार ने 2008 में जलवायु परिवर्तन पर राष्ट्रीय कार्य योजना तैयार की है जो निम्न है -

कार्यपद्धति

जलवायु परिवर्तन पर राष्ट्रीय कार्य योजना में उन उपायों की पहचान की गई है जो हमारे विकास संबंधी उद्देश्यों को बढ़ावा देने के साथ-साथ जलवायु परिवर्तन की समस्या से प्रभावी ढंग से निपटने के लिये सह-लाभ भी उपलब्ध कराते हैं। इसमें ऐसे अनेक उपायों को भी रेखांकित किया गया है जिनसे भारत के विकास तथा अनुकूलन और उपशमन संबंधी जलवायु परिवर्तन से जुड़े लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सकता है।

सिद्धान्त

जलवायु परिवर्तन से संबंधित राष्ट्रीय कार्य योजना निम्नलिखित सिद्धान्तों द्वारा अनुप्रेरित है:

- ◆ एक समग्र और सतत विकास कार्यनीति द्वारा जलवायु परिवर्तन के प्रति संवेदनशील समाज के निर्धन और असुरक्षित वर्गों की सुरक्षा करना।
- ◆ पारिस्थितिकीय संतुलन में बढ़ोत्तरी करने वाले गुणात्मक परिवर्तन के माध्यम से राष्ट्रीय प्रगति के लक्ष्यों को प्राप्त करना जिससे कि ग्रीन हाऊस गैस उत्सर्जनों को आगे और अधिक उपशमित किया जा सके।
- ◆ एंड यूज डिमांड साइड मैनेजमेंट के लिए बेहतर और लागत प्रभावी कार्यनीतियाँ तैयार करना।
- ◆ ग्रीन हाऊस गैस उत्सर्जनों के व्यापक रूप से अनुकूलन और उनके उपशमन, दोनों के

लिए, व्यापक रूप से तथा तेजी से उपयुक्त प्रौद्योगिकी का प्रयोग करना।

- ◆ सतत विकास को बढ़ावा देने के लिए बाज़ार, विनियामक और सैद्धिक तंत्रों के नए और आधुनिक स्वरूप तैयार करना।
- ◆ सिविल सोसाइटी और स्थानीय सरकारी संस्थाओं सहित सार्वजनिक तथा निजी सहभागिता के माध्यम से श्रेष्ठ संबंधों के द्वारा कार्यक्रमों को कार्यान्वित करना।
- ◆ अतिरिक्त वित्त व्यवस्था तथा वैश्विक आईपीआर रेजीम, जिसके द्वारा यूएनएफसीसीसी के अर्न्तगत विकासशील देशों को प्रौद्योगिकी के अंतरण हेतु अनुसंधान विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का स्वागत करना।

आठ राष्ट्रीय मिशन

राष्ट्रीय सौर मिशन (National Solar Mission): अन्य नवीकरणीय और गैर-जीवाश्म विकल्पों जैसे नाभिकीय ऊर्जा, पवन ऊर्जा और बायोमास के स्कोप के विस्तार की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए कुल ऊर्जा के योगदान को महत्वपूर्ण रूप से बढ़ाने के लिए एक राष्ट्रीय सौर मिशन शुरू किया जाएगा।

राष्ट्रीय संवर्धित ऊर्जा बचत मिशन (National Mission on Enhanced Energy Efficiency): ऊर्जा संरक्षण अधिनियम, 2001, केन्द्र सरकार में ब्यूरो ऑफ एनर्जी एफिशिएंसी (BEE) और राज्य में रामोद्दिष्ट अभिकरण के संस्थानिक तंत्र के माध्यम से ऊर्जा बचत उपायों के कार्यान्वयन के लिए कानूनी अधिदेश मुहैया कराता है। बहुत सी स्कीमें और कार्यक्रम शुरू किए गए हैं और



यह प्रत्याशा है कि इससे वर्ष 2012 में 11वीं पंचवर्षीय योजना के अंत तक 10,000 मेगावाट की बचत होगी।

राष्ट्रीय सतत पर्यावास मिशन (National Mission on Sustainable Habitat): भवनों में ऊर्जा बचत सुधारों, ठोस अपशिष्ट के प्रबंधन और निश्चित रूप से सार्वजनिक परिवहन को अपनाने के माध्यम से पर्यावास को सतत बनाने के लिए सतत पर्यावास राष्ट्रीय मिशन शुरू किया जाएगा। इस मिशन से अवसंरचना के लचीलेपन, समुदाय आधारित आपदा प्रबंधन और चरम जलवायु दशाओं के लिए चेतावनी प्रणाली में सुधार के उपाय, भावी जलवायु परिवर्तन के प्रति अनुकूलन की आवश्यकता पूरी होगी। क्षमता निर्माण इस मिशन का एक महत्वपूर्ण घटक होगा।

राष्ट्रीय जल मिशन (National Water Mission): जल संरक्षण, बेसिन स्तर का प्रबंधन, वर्षा जल संचयन, अप्रचलित प्रणालियों का पुनर्स्थापन व भण्डारण, वाटर न्यूट्रल को बढ़ावा देना एवं भूमिगत जल स्रोतों के रीचार्ज को प्रोत्साहित करने के लिए प्रोत्साहन ढांचा तैयार किया जाएगा।

राष्ट्रीय हिमालयी पारिप्रणाली परिरक्षण मिशन (National Mission for Sustaining the Himalayan Eco-system): हिमालय के हिमनदों और पर्वत पारिप्रणाली को बनाए रखने और सुरक्षा के लिए प्रबंधन उपाय विकसित करने के लिए हिमालय पारिप्रणाली हेतु एक मिशन शुरू किया जाएगा। हिमालय, बारहमासी नदियों का प्रमुख स्रोत है, अतः यह मिशन अन्य बातों के साथ-साथ जानना चाहेगा कि हिमालय के हिमनद कैसे और किस हद तक कम हो रहे हैं और इस समस्या को किस प्रकार हल किया जा सकता है।

राष्ट्रीय हरित भारत मिशन (National Mission for a Green India): कार्बन सिंक्स सहित पारिप्रणाली सेवाओं को बढ़ाने के लिए हरित भारत नामक एक राष्ट्रीय मिशन शुरू किया

जाएगा। पारिस्थितिकीय संतुलन के परिरक्षण और जैवविविधता अनुरक्षण में वनों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। वन एक अत्यंत प्रभावी कार्बन-सिंक भी बनाते हैं।

राष्ट्रीय सतत कृषि मिशन (National Mission for Sustainable Agriculture): इस मिशन से भारतीय कृषि को जलवायु परिवर्तन के प्रति और अधिक प्रभावी बनाने के लिए कार्यनीति होगी। इससे फसलों की नई किस्मों की पहचान होगी और विशेष रूप से ताप प्रतिरोधी फसलें और वैकल्पिक कृषि पद्धति, मौसम की उग्रता का सामना करने में सक्षम, लंबे समय तक सूखा सहन करने, बाढ़ और अनिवार्य नमी उपलब्धता वाली फसलों की किस्म भी विकसित होगी।

राष्ट्रीय जलवायु परिवर्तन कार्यनीतिक- ज्ञान मिशन (National Mission on Strategic Knowledge for Climate Change): ओपन सोर्स प्लेटफार्मों सहित अनुसंधान और प्रौद्योगिकी विकास और तंत्रों के माध्यम से वैश्विक समुदाय को सूचीबद्ध करने के लिए जलवायु परिवर्तन की चुनौतियों और प्रतिक्रियाओं की पहचान करने के लिए कार्यनीतिक ज्ञान मिशन की स्थापना की जाएगी। यह जलवायु परिवर्तन के विभिन्न पहलुओं में उच्च गुणवत्ता और केंद्रित अनुसंधान के लिए धन की व्यवस्था सुनिश्चित करेगा।

मिशन क्रियान्वयन

इन राष्ट्रीय मिशनों का संबंधित मंत्रालयों द्वारा संस्थानीकरण किया जायेगा और जिसे इंटर सेक्टरल समूहों द्वारा आयोजित किया जाएगा और इसमें संबंधित मंत्रालयों के अतिरिक्त वित्त मंत्रालय और योजना आयोग, उद्योगों, शैक्षिक संस्थाओं और जन समुदाय के विशेषज्ञ शामिल होंगे। मिशन द्वारा किए जाने वाले कार्य के आधार पर संस्थानिक ढांचे में परिवर्तन किया जाएगा और इसमें सर्वोत्तम प्रबंधन मॉडल पर प्रतियोगी अवसर शामिल

किए जाएंगे। लक्ष्यों, कार्यनीतियों, कार्ययोजना, टाइमलाइन और मॉनीटरिंग तथा मूल्यांकन मानदंड का ब्यौरा देते हुए व्यापक मिशन दस्तावेज़ तैयार किए जाएंगे। प्रत्येक मिशन अपनी वार्षिक उपलब्धि की रिपोर्ट सार्वजनिक करेगा।

ये आठ राष्ट्रीय मिशन एक साथ मिलकर तकनीकी दस्तावेज़ में शामिल वर्तमान और ज़ारी कार्यक्रमों में वृद्धि के साथ न केवल जलवायु परिवर्तन के अनुकूलन में देश की सहायता करेंगे, अपितु महत्वपूर्ण ढंग से अर्थव्यवस्था को एक ऐसे मार्ग पर क्रमिक और पर्याप्त रूप से स्थापित करेंगे जिसके परिणामस्वरूप परिहार्य उत्सर्जनों के माध्यम से कमी होगी।

जलवायु परिवर्तन पर राष्ट्रीय कार्ययोजना निर्माण के पीछे सरकार के उद्देश्य में शायद सामाजिक हित सर्वोपरि रहा हो मगर जब समाज के विषय में बातचीत कर रहे हों और समाज को ही अलग-थलग रखा जाए, और बिना समाज की सहभागिता के किसी समस्या का समाधान ढूँढ़ लिया जाए, वो समाज को कितना लाभ पहुँचाएगा ये एक प्रश्न है।

दूसरी बात, इस कार्ययोजना के निर्माण को एक वर्ष बीत जाने के पश्चात् भी आम या खास वर्ग के बीच इस कार्ययोजना के सन्दर्भ में बात-चीत का ना होना इस कार्ययोजना को सन्देह के घेरे में लाता है। सन्देह यह कि इस कार्ययोजना को सिर्फ अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों में भारत के नज़रिये को रखने के लिए बनाया गया था या फिर यथार्थ में क्रियान्वयन भी होगा।





अखबारों की सुर्खियाँ

शहरों का 70% गंदा पानी नदियों में

भारत में विभिन्न उद्योगों के बढ़ते प्रभाव के कारण प्रदूषित हो चुकी नदियों को साफ करने का अभियान पिछले लगभग 20 वर्षों से चल रहा है। इसकी शुरुआत 1986 के लगभग ही तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गाँधी की पहल पर गंगा सफाई अभियान से हुई थी। इस काम में अरबों रुपये खर्च हो चुके हैं, लेकिन असलियत यह है कि अब भी शहरों और कस्बों का 70 फीसदी गंदा पानी बिना शोधित किए हुए ही इन नदियों में गिराया जा रहा है। इसी तरह देश की राजधानी दिल्ली से होकर गुजरने वाली यमुना की सफाई को लेकर भी कई परियोजनाएँ बन चुकी हैं और यमुना को टेम्स बनाने का नारा भी लगाया जा रहा है। लेकिन परिणाम वही ढाक के तीन पात रहे हैं और यमुना दिनोंदिन गंदे नाले में बदलती जा रही है। केन्द्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड ने अपने एक हालिया अध्ययन में कहा है कि देशभर के 900 से अधिक शहरों और कस्बों का 70 फीसदी गंदा पानी पेयजल की प्रमुख स्रोत नदियों में बिना शोधन के ही छोड़ दिया जाता है। वर्ष 2008 तक के उपलब्ध आंकड़ों के मुताबिक ये शहर और कस्बे प्रतिदिन 38,254 मिलियन लीटर गंदा पानी छोड़ते हैं, जबकि ऐसे पानी के शोधन की क्षमता महज 11,787 मिलियन लीटर प्रतिदिन ही है। (साभार : हिन्दुस्तान, 11 जनवरी 2010)

भारत ने संयुक्त राष्ट्र को बताए उत्सर्जन कटौती के अपने लक्ष्य

कार्बन उत्सर्जन कम करने का संकल्प पूरा करने की दिशा में कदम बढ़ाते हुए भारत ने संयुक्त राष्ट्र को सूचित कर दिया है कि वह 2020 तक उत्सर्जन तीव्रता में 20 से 25 फीसदी की कमी करेगा। लेकिन इसी के साथ भारत ने जोर दिया है कि यह कटौती कृषि क्षेत्र पर लागू नहीं होगी। भारत ने जलवायु परिवर्तन पर संयुक्त राष्ट्र की रूपरेखा संधि (यूएनएफसीसीसी) के सचिवालय को सौंपे वक्तव्य में कहा है कि

भारत अपने घरेलू उपायों के ज़रिए 2005 के स्तर की तुलना में 2020 तक कार्बन उत्सर्जन में 20 से 25 फीसदी की कमी लाएगा। डेनमार्क की राजधानी कोपेनहेगन में दिसम्बर 2009 में जलवायु संकट के मुद्दे पर हुए अंतर्राष्ट्रीय शिखर सम्मेलन के दौरान अपनाए गए रुख पर कायम रहते हुए सरकार ने कहा कि ये कदम जलवायु संकट से निपटने की वैश्विक कोशिशों में देश के योगदान की प्रकृति के होंगे। इनकी प्रकृति पूरी तरह से स्वैच्छिक होगी और इसका चरित्र कानूनी रूप से बाध्यकारी नहीं होगा।

ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन के मामले में कृषि क्षेत्र की 14 फीसदी भूमिका है। कार्बन उत्सर्जन में कटौती के लक्ष्य से संयुक्त राष्ट्र को अवगत कराने वाले अपने ख़ाके में भारत ने इसे बाहर रखा है ताकि खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित की जा सके और बढ़ती आबादी की ज़रूरतों से किसी तरह का समझौता नहीं किया जाए। संयुक्त राष्ट्र को सौंपे गए ख़ाके में कहा गया है कि कार्बन उत्सर्जन में कटौती के उपाय कृषि क्षेत्र पर लागू नहीं होंगे। उत्सर्जन की तीव्रता के आंकलन से कृषि क्षेत्र में होने वाली उत्सर्जन कटौती को बाहर रखा जाएगा।

भारत ने कहा है कि वह अपने प्रासंगिक राष्ट्रीय कानूनों और नीतियों के प्रावधान के मुताबिक ही उत्सर्जन में कटौती के उपायों को लागू करेगा। भारत ने यह भी कहा है कि वह विभिन्न क्षेत्रों में उत्सर्जन में कटौती के लक्ष्यों को पूरा करने के उपायों के बारे में बाद में ब्यौरा देगा। भारत ने कम कार्बन उत्सर्जन वाली अर्थव्यवस्था को आकार देने के लिए एक विशेषज्ञ समूह गठित किया है। यह समूह हर क्षेत्र में उत्सर्जन में कमी लाने के तरीकों और इन तरीकों के इस्तेमाल के उपाय सुझाएगा।

भारत की यह घोषणा अमेरिका और यूरोपीय संघ के यह प्रतिबद्धता जताए जाने के बाद हुई कि वे ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में कमी लाएँगे। अमेरिका ने 2005 के स्तर की तुलना में 2020 तक 17 फीसदी कटौती करने का संकल्प जताया है। उसके अनुसार ये लक्ष्य जलवायु परिवर्तन से निपटने के लिए उसके देश में विधेयक पास होने पर निर्भर है।

(साभार : जनसत्ता, 1 फरवरी 2010)

(सीमित प्रसार के लिए प्रकाशित)

पैरवी

जी-30, प्रथम तल, लाजपत नगर III,
दिल्ली-110024

फोन : 011-29841266, 65151897

ई-मेल : pairvidelhi@rediffmail.com

pairvidelhi1@gmail.com

वैबसाईट : www.pairvi.org

Book-Post

